

□ डा० हुकुमचन्द संगवे

हमारी समस्त तत्त्वविद्या का विकास एवं विस्तार आत्मा को केन्द्र मानकर ही हुआ है। आत्मवादी एवं अनात्मवादी दोनों ही दर्शनों में आत्मा के विषय में गहरी विचारणा हुई है। प्रस्तुत में विद्वान लेखक ने आत्मतत्त्व पर विभिन्न दृष्टिबिन्दुओं से एक पर्यवेक्षणा किया है।

आत्मतत्त्व : एक विवेचन

□

आत्मतत्त्व की धारणा

भारतीय चिन्तकों ने विश्व के समस्त पदार्थों को चेतन और अचेतन दो रूपों में विभाजित किया है। चेतन में ज्ञान, दर्शन, सुख, स्मृति, वीर्य आदि गुण पाये जाते हैं और अचेतन में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गुण आदि। वैदिक काल में भी आत्मा अर्थात् चेतन तत्त्व की जानने की जिज्ञासा हुई थी—‘यह मैं कौन हूँ? मुझे इसका पता नहीं चलता^१।’ अचेतन तत्त्व के सम्बन्ध में भी जिज्ञासा थी—‘विश्व का वह मूल तत्त्व सत् है या असत्? उस तत्त्व को इन्हीं नाम से कहने को वे तैयार नहीं हैं।^२ इसके अनन्तर ब्राह्मणकाल की अपेक्षा उपनिषद्काल में आत्मा के स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण विचार हुआ। जैन वाङ्मय में आत्मचर्चा की प्रमुखता आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत की। इस दार्शनिक तत्त्व पर विचार किया जाय तो वैदिक युग में आत्मा के स्वरूप का उतना अधिक चिन्तन नहीं हुआ, जितना बाद में हुआ। भारतीय दर्शन में पराविद्या, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, मोक्षविद्या इस प्रकार के विद्याओं के विवेचन प्रसंग में आत्मविद्या का स्थान है।

आत्मा संसार के समस्त पदार्थों से नित्य और विलक्षण है। आत्मा का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः अपने में होता है। उपनिषदों में वर्णित आत्मा का स्वरूप जैन दार्शनिक स्वीकार करते हैं परन्तु सुख-दुःख की अवस्था को उपनिषद् में मिथ्या कहा गया है जबकि जैन दर्शन में सुख-दुःखादि कर्मसंयोग से^३ आत्मा के आनन्द गुण को विकृत रूप में अनुभव किये जाने की मान्यता है। उपनिषद् में जहाँ आत्मा को ब्रह्मांश स्वीकार किया है वहाँ जैन दर्शन में आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। “चेतन आत्मा न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह किसी का कार्य है और न स्वतः ही अभाव रूप में से भावरूप में आया है, वह जन्म-मरण रहित नित्य, शाश्वत, पुरातन है। शरीर नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता। आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व शक्ति है। वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, नित्य, गंधरहित है, जो अनादि, अनन्त, महत्त्व से परे और ध्रुव है, उस आत्म तत्त्व को प्राप्त कर मनुष्य मृत्यु के मुख से छुटकारा प्राप्त करता है।” उपनिषद् के इस विचार से आचार्य कुन्दकुन्द सहमत हैं।

आत्मा का अस्तित्व

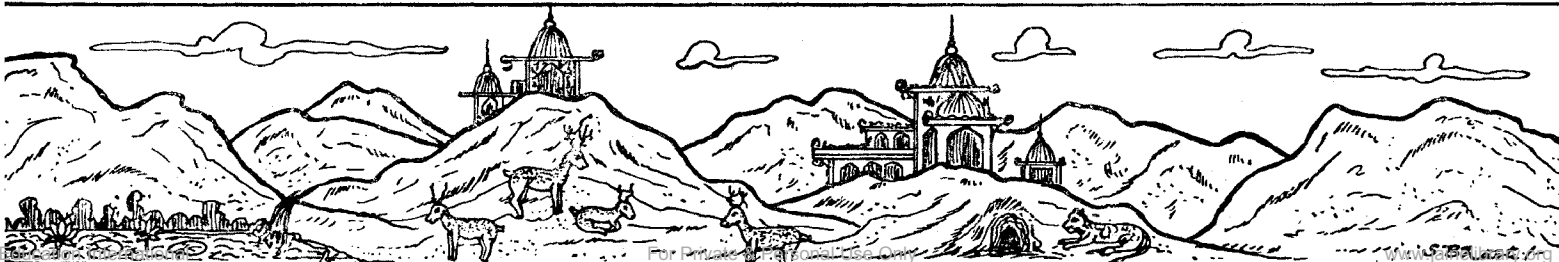
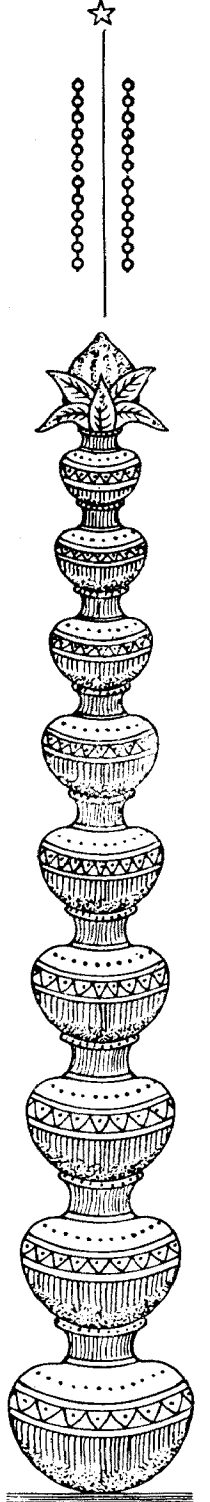
भारतीय दर्शन का विकास और विस्तार आत्मतत्त्व को केन्द्र मानकर ही हुआ। अनात्मवादी तथा आत्मवादी दर्शन में भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है, भले ही उनमें स्वरूप-भिन्नता हो।

१ ऋग्वेद : १।१६।३७।

२ वही : १०।१२६।

३ पंचाध्यायी : २।३५ ‘यथा अनादि स जीवात्मा...’।

४ कठोपनिषद् : १।२।१८; १।३।१५।

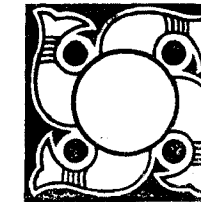
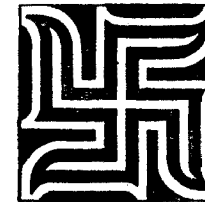
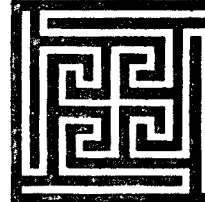
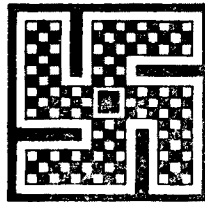
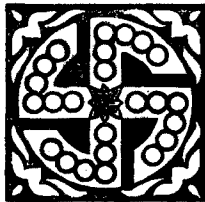
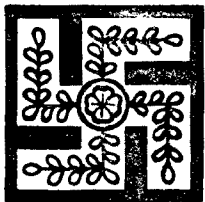


जब किसी भी वस्तु के स्वरूप, भेद का विचार करते हैं तब सर्वप्रथम उसके अस्तित्व पर विचार करना आवश्यक है। कोई शरीर को, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को और कोई संघात को आत्मा समझता है। कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो इन सबसे पृथक् आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।^१ आत्म-विषयक मान्यता में दो प्रमुख धाराएँ चल पड़ीं। अद्वैत मार्ग में किसी समय अनात्मा की मान्यता थी और धीरे-धीरे आत्माद्वैत की मान्यता चल पड़ी। चार्वाक जैसे दार्शनिकों के मत में आत्मा का मौलिक स्थान नहीं था जबकि जैन, बौद्ध, सांख्य दर्शन में आत्मा के चेतन और अचेतन दोनों रूपों का मौलिक तत्त्वों में स्थान है। पंचाध्यायी^२ में कहा है कि स्वसंवेदन द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है। संसार के जितने चेतन प्राणी हैं सभी अपने को सुखी, दुःखी, निर्धन आदि के रूप में अनुभव करते हैं। यह अनुभव करने का कार्य चेतन आत्मा में ही हो सकता है।

आत्मा के अस्तित्व के विषय में संशय^३ होना स्वाभाविक है। आत्मा अमूर्त है। शास्त्रों का आलोचन करके भी उसे पहचानना असम्भव है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। षटपटादि पदार्थ प्रत्यक्ष में दिखलाई देते हैं उसी प्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। जो प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं, उसकी अनुमान प्रमाण से सिद्धि नहीं होती। कारण अनुमान का हेतु प्रत्यक्षगम्य होना चाहिए। धुआं और अग्नि का अविनाभावी हेतु हम प्रत्यक्ष पाकशाला में देखते हैं। अतः अन्यत्र धुएँ को देखकर स्मरण के बल पर परोक्ष-अग्नि का अनुमान द्वारा ज्ञान कर सकते हैं। परन्तु आत्मा का ऐसा कोई अविनाभावी सम्बन्ध हमें पहले कभी देखने में नहीं आया। अतः आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से नहीं है। चार्वाक तो जो दिखलाई पड़ता है उसी को मानता है।^४ आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व उसे मान्य नहीं। भूत समुदाय से विज्ञानघन उत्पन्न होता है। भूतों के विलय के साथ ही वह नष्ट होता है पर-लोक नाम की कोई वस्तु है ही नहीं।^५ इसके विरोध में उपनिषद में^६ विचार प्रस्तुत किये हैं। आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता और चेतनस्वरूपी माना है।

कहीं-कहीं पर शरीर को ही आत्मा माना है।^७ यदि शरीर से भी भिन्न आत्मा है तो मरणोपरान्त बन्धु-बांधवों के स्नेह से आकृष्ट होकर लौट क्यों नहीं आता? इन्द्रियातीत कोई आत्मा है ही नहीं। शरीर से ही दुःख-सुख प्राप्त होते हैं। मरने के बाद आत्मा का अस्तित्व कहाँ है? शरीर ही आत्मा है।^८ आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध है और शरीर से भिन्न है। यहाँ कहते हैं आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष से सिद्ध है। 'जीव है या नहीं?' यह संशय चेतना का ही रूप है। चेतना और उपयोग आत्मा का स्वरूप^९ है, शरीर का नहीं। संशय आत्मा में ही उत्पन्न हो सकता है, शरीर में नहीं। विज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है अतः यही आत्मा का प्रत्यक्ष है। आत्मा प्रत्यक्ष से सिद्ध होता हो तो अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता? शरीर के ही विज्ञान गुण को माना तो मैंने किया, मैं कर रहा हूँ और मैं करूँगा, इसी अहंरूप ज्ञान से प्रत्यक्ष आत्मानुभूति नहीं होती? शरीर ही मैं हूँ तो 'मेरा शरीर' इस प्रकार का शब्द प्रयोग नहीं होता। मृत्यु के बाद शरीर को नहीं कहा जाता कि अमुक शरीर मर गया परन्तु संकेत जीव की ओर रहता है। सभी लोकों में आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति है। 'मैं नहीं हूँ' ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं है—यदि आत्मा को अपना

- १ न्यायवार्तिक : पृ० ३६६ ।
- २ पंचाध्यायी २।५ ।
- ३ विशेषा० : गा० १५४६ ।
- ४ षट्दर्शन : पृ० ८१ 'एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
- ५ बृहदारण्यक : २।४।१२ ।
- ६ छान्दोग्य उप० : ८।१२।१; मैत्रायणी उप० : ३।६।३६ ।
- ७ परमानन्द महाकाव्य । ३।१२४ ।
- ८ धर्मशर्माम्बुदय : ४।६४-६५ ।
- ९ तत्त्वार्थसूत्र : २/८; उपयोगो लक्षणम् ।



अस्तित्व अज्ञात होता तो 'मैं नहीं हूँ' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए।^१ परन्तु होती नहीं। अहं प्रत्यय को ही आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है।^२

संशय स्वयं ज्ञान रूप है। ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण के बिना गुणी नहीं रह सकता। कपड़ा और कपड़े का रंग, कपड़ा ग्रहण किया कि रंग का भी ग्रहण होगा। ज्ञान गुण देह का मानना व्यर्थ है, कारण देह मूर्त है। ज्ञान अमूर्त है, बोध रूप है। गुण अनुरूप गुणी में ही रह सकते हैं। जैसा गुणी होगा वैसा गुण होगा। विचारणीय यह है कि गुण और गुणी भिन्न है या अभिन्न? न्याय-वैशेषिक दोनों में भेद मानते हैं। सांख्य ने गुण-गुणी में अभेद स्वीकार किया है तथा जैन और मीमांसक मत में गुण-गुणी में कथंचित् भेद कथंचित् अभेद माना है। गुण-गुणी से अभिन्न माना तो गुण दर्शन से गुणी का दर्शन मानना होगा; भिन्न माना तो घट-पटादिक का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, कारण घट-पटादि गुणी हैं। वे गुण के अभाव में ग्रहण करने योग्य नहीं होते। जहाँ गुण है वहाँ गुणी है। गुण प्रत्यक्ष है अतः गुणी को भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। स्मरणादि गुण प्रत्यक्ष हैं उसी का गुणी आत्मा का प्रत्यक्ष ग्रहण होगा। यहाँ शंका होनी स्वाभाविक है कि शब्द का प्रत्यक्ष होता है, आकाश का नहीं। शब्द आकाश का गुण माना है। यह वैशेषिक का अनुभव अयुक्त है, कारण शब्द पौद्गलिक है, मूर्त है। अमूर्त का गुण मूर्त नहीं है, यह हम पहले कह आये। स्मरणादि को शरीर के गुण मानना इष्ट नहीं। खिड़की से हम देखते हैं परन्तु खिड़की देख नहीं सकती। उसे ज्ञान नहीं होता। शरीर खिड़की के सदृश्य है। आत्मा, ज्ञान, चेतन गुण युक्त है। प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हुआ कि आत्मा है, अतः अब यह जानना आवश्यक है कि उसका स्वरूप क्या है?

आत्मा का स्वरूप

आचार्य देवसेन ने आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, अमूर्तत्व ये छः गुण बतलाये हैं।^३ आचार्य नेमिचन्द्र^४ ने जीव का उपयोगमयी, अमूर्तिक, कर्त्ता, स्वदेह परिमाण, भोक्ता, ऊर्ध्वगमन, सिद्ध और संसारी, इस तरह नौ प्रकार से कथन किया है।

जहाँ उपयोग है, वहाँ जीवत्व है, जहाँ उपयोग नहीं, वहाँ जीवत्व का अभाव है। उपयोग, ज्ञान जीव का ऐसा लक्षण है जो सभी जीवों में चाहे संसारी हों या सिद्ध, सब में पाया जाता है। ज्ञान भी जीव के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। 'ज्ञान आत्मा' ऐसा 'समयसार' में कहा है। मूल स्वभाव ज्ञान है। ज्ञान गुण में ज्ञानावरणादि से विकृति भले ही आ जाये परन्तु सर्वथा ज्ञान गुण का नाश नहीं होता। ज्ञान पाँच माने हैं। प्रथम चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं और केवल ज्ञान क्षायिक है। क्षायोपशमिक अवस्था में कर्म का सद्भाव रहता है।

गुण दो प्रकार के हैं—(१) स्वाभाविक, और (२) वैभाविक। जल की शीतलता, अग्नि की उष्णता—ये उनके स्वाभाविक गुण हैं। अग्नि के निमित्त से जल में उष्णता आती है। यही उष्णता जल का विभाव गुण है। अग्नि हट गई तो उष्णता भी हट जाती है। पानी में आई हुई उष्णता पर के निमित्त से है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है।

छान्दोग्य उपनिषद^५ में एक कथा आती है। असुरों में से विरोचन और देवों का प्रतिनिधि इन्द्र ये दोनों प्रजापति के पास आत्म-ज्ञान के लिये गये हैं। प्रजापति से पूछा आत्मस्वरूप क्या है? प्रजापति ने जलमय शांत सरोवर में देखने को कहा और पूछा कि क्या देख रहे हो? उन्होंने उत्तर में कहा—हम अपने प्रतिबिम्ब को देख रहे हैं। बस! यही आत्मा है। विरोचन का तो समाधान हुआ परन्तु इन्द्र चिंतित था।

यहीं से चिंतन शुरू हुआ। इन्द्रिय और शरीर का संचालक मन है। 'मन' को आत्मा माना। मन भी जब तक प्राण है तब तक कार्य करता है। प्राण-पखेरू उड़ जाने के बाद मन का चिंतन बन्द हो जाता है अतः मन नहीं,

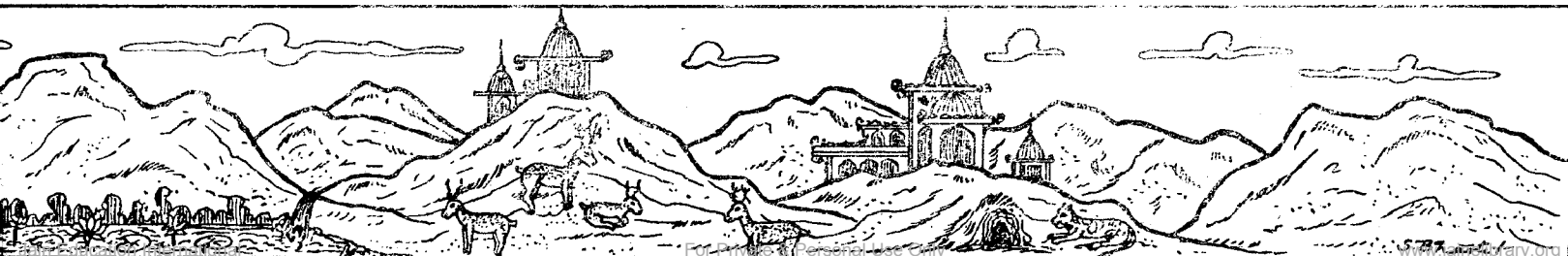
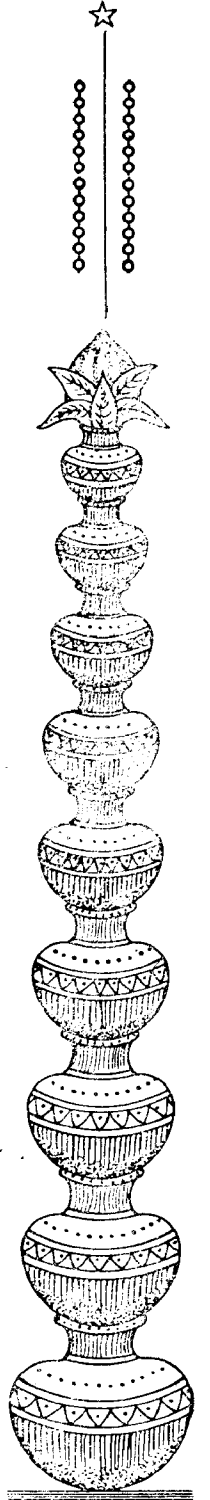
१ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य : १।१।१।

२ न्यायमंजरी : पृ० ४२६; न्यायवातिक : पृ० ३४१।

३ आलाप पद्धति, प्रथम गुच्छक : पृ० १६५-६६।

४ द्रव्यसंग्रह : १।२।

५ छान्दोग्योपनिषद : ८।८।



‘प्राण’ आत्मा है। शरीर, मन और प्राण को आत्मा मानने की प्रक्रिया से और चिंतन के गहराई में उतरने के बाद मनन करते-करते परिज्ञान हुआ कि शरीर आत्मा नहीं, इन्द्रिय आत्मा नहीं, मन आत्मा नहीं, प्राण आत्मा नहीं। ये सब भौतिक हैं, नाशवंत हैं। परन्तु आत्मा शाश्वत है। इसी चिंतन से भौतिक की ओर से अभौतिक का चिंतन होने लगा। आत्मा भौतिक नहीं, अभौतिक है, यह सिद्ध हुआ। ‘समयसार’^१ में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—‘न आत्मा में रूप है, न रस है, न स्पर्श है और न गन्ध है। यह संस्थान और संहनन से रहित है। राग, द्वेष, मोह आत्मा के स्वरूप नहीं। (जीव में न आस्रव है, न वर्ण है, न वर्गणायें हैं, न स्पर्धक हैं, और न अनुभाग स्थान, न क्लेश स्थान हैं। यह आत्मा शुद्ध, बुद्ध और ज्ञानमय है। ‘ज्ञानमय’ स्वरूप तक आत्मा के बारे में जानकारी है। कर्म बंध और उससे मुक्ति का भी विचार हुआ है।

आत्मा के प्रदेश और विस्तार

जैन दर्शन में षट्द्रव्य माने गये हैं। काल द्रव्य के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अस्तिकाय है। काल-द्रव्य^२ अनस्तिकाय है। प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहते हैं और एक ही प्रदेश हो, प्रदेशों का समूह न हो, उसे अनस्तिकाय कहते हैं।^३ जैन दर्शन की मान्यता है कि जिस द्रव्य में एक प्रदेश हो, वह एक प्रदेशी और जिसमें दो आदि, संख्यात, असंख्यात, अनंत प्रदेश हों वह बहुप्रदेशी द्रव्य है। जीव, धर्म, अधर्म, द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं।^४ यहाँ शंका होती है कि प्रदेश किसे कहा जाय? ‘एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश को स्पर्श करता है, उतने देश को प्रदेश कहा है।^५ जीव द्रव्य के प्रदेश की विशेषता यह है कि, वह बड़े या लघु जिस प्रकार का शरीर प्राप्त हुआ हो, उसी के अनुलक्षुन जीव के प्रदेश संकोचित या विस्तृत होते हैं। जीव का स्वभाव शरीर-परिमाण है, यह हम पहले कह आये। ‘तत्त्वार्थ सूत्र’^६ में दीपक का उदाहरण दिया है। क्या सचमुच आत्मा शरीर-परिमाण है? कारण अन्यत्र आत्मा के परिमाण के बारे में अनेक कल्पनाएँ उपलब्ध होती हैं।

भगवान महावीर से इन्द्रभूति गौतम पूछते हैं—“आत्मा चेतना लक्षण युक्त है, मगर उसका क्या रूप है, व्यापक या अनेकरूप है।” आत्मा आकाश की भाँति अखण्ड, एक रूप, व्यापक नहीं है। जीव प्रति शरीर भिन्न है। आकाश का लक्षण सर्वत्र एक है। प्रति शरीर प्रति जीव में सुख-दुःख का अनुभव भिन्न-भिन्न है। एक सुखी होने पर सबको सुखी होना चाहिए और एक को दुःखी होने पर सबको दुःखी होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। सर्वगत आकाश की भाँति एक माना तो बंध, मोक्ष में अव्यवस्था उत्पन्न होगी। आत्मा व्यापक नहीं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसक आदि आत्मा को व्यापक मानते हैं। रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्मात्मा व्यापक है और जीवात्मा अनु-परिमाण। चार्वाक आत्मा को अर्थात् उसी के मतानुसार चैतन्य को देह-परिमाण मानता है। उपनिषद में आत्मा को मानने की यही परम्परा है। कौषीतकी उपनिषद में^७ आत्मा को देह-प्रमाण बताते हुए कहा है कि, ‘जिस प्रकार तलवार म्यान में व्याप्त है और अग्नि अपने कुंड में व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा शरीर में नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है। तैत्तिरीय^८ उपनिषद में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आत्मा को शरीर-प्रमाण बताया। बृहदारण्यक में^९ उसे चावल या जौ समान बताया है। कठोपनिषद^{१०} तथा श्वेताश्वेतरोपनिषद^{११} में आत्मा को अंगुष्ठ परिमाण माना है। मैत्रेयी उपनिषद^{१२} में अणुमात्र माना है। जैनों ने उसे देह परिमाण माना परन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा से उसे व्यापक भी माना^{१३}; अथवा समुद्घात की अवस्था में आत्मा के प्रदेशों का विस्तार होता है, उसकी अपेक्षा से उसे व्यापक माना है। संसारी आत्मा देह-परिमाण रूप है।

१ समयसार : ५०-५१।

३ भगवती : पृ० १३८।

५ भगवती सूत्र : १८।७।

७ कौषीतकी उपनिषद : ४।२०।

९ बृहदारण्यक : ५।६।१।

११ श्वेताश्वेतरोपनिषद : ३।१३।

१३ ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसंग्रह टी० : १०।

२ तत्त्वार्थसूत्र : ५।११; द्रव्य संग्रह : २३।

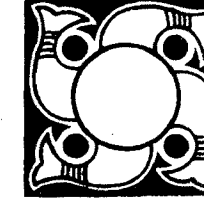
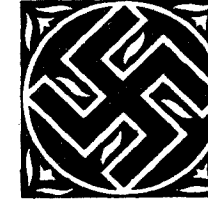
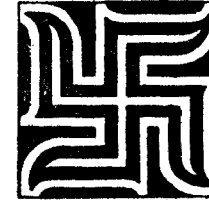
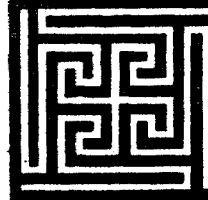
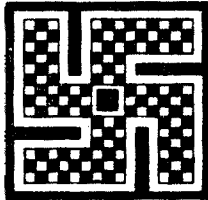
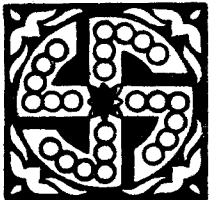
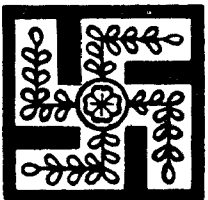
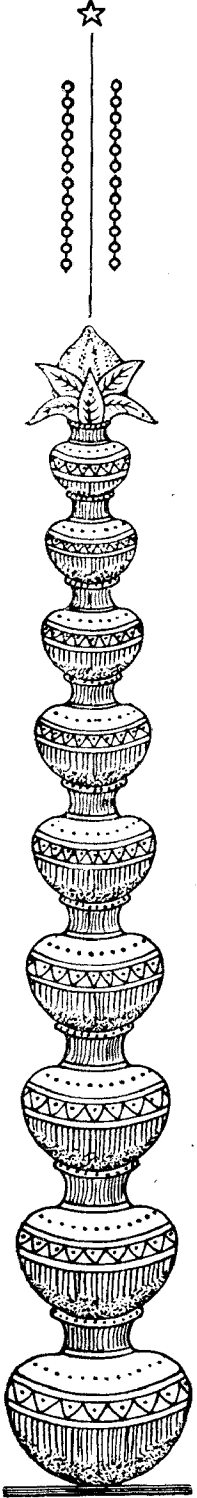
४ तत्त्वार्थसूत्र : ५।८।

६ तत्त्वार्थसूत्र : ५।१६।

८ तैत्तिरीय उपनिषद : १।२।

१० कठोपनिषद : २।२।१२।

१२ मैत्रेयी उपनिषद : ६।३८।



जीव अपने कामेण शरीर के साथ उन स्थानों में गमन करता है, जहाँ नूतन शरीर धारण करना हो। नूतन शरीर में जब आत्मा प्रवेश करता है, उसी के अनुरूप वह अपने प्रदेशों का विस्तार या संकोचन कर लेता है। यही बात द्रव्यसंग्रह में कही है।^१

संसारवस्था में आत्मा शरीर प्रमाण है और मुक्तावस्था में जिस शरीर से आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है, उससे कुछ न्यून परिमाण में सिद्धशिला पर स्थित रहता है। यह मान्यता जैनदर्शन की अपनी है।

आत्माएँ अनंत हैं। सभी आत्माएँ अपनी-अपनी कर्तृत्व शक्ति से कर्मों का अर्जन करते हुए भोग भोगते हैं। संसार में अनेक जीव दिखाई पड़ते हैं, अतः उन्हीं का निषेध करते हुए एक मानना और यह कहना कि नाना शरीर के कारण आत्माएँ भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते, जबकि आत्मा एक है। यह मत इष्ट नहीं। अनेक आत्माओं को जैनदर्शन, बौद्ध न्याय, वैशेषिक और पूर्व मीमांसा दर्शन ने स्वीकार किया है। वेदान्त में मात्र एक आत्मा को मौलिक माना है। अन्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना। अनेक-एक भिन्न-भिन्न मानने में शंकराचार्य से लेकर वल्लभाचार्य तक ऊहापोह हुआ है।

आत्मा के भेद

'स्थानांग सूत्र' में 'एगे आया' 'आत्मा एक है' कहा है। स्वरूप के दृष्टिकोण से आत्मा में भेद नहीं। जो स्वरूपसिद्ध जीव का है वही संसारी जीव का है। परन्तु इसी आगम में आठवें स्थान में आठ प्रकार के आत्मा कहे हैं— (१) द्रव्य आत्मा, (२) कषायात्मा, (३) योगात्मा, (४) उपयोगात्मा, (५) ज्ञानात्मा, (६) दर्शनात्मा, (७) चारित्र्यात्मा और (८) वीर्यात्मा। प्रथम जो कथन किया गया है वह निश्चय दृष्टि से, और दूसरा कथन व्यवहार दृष्टि से है। संसारी आत्मा कषायसहित है और सिद्धात्मा उससे रहित। 'योगसार'^२ में आत्माओं के तीन भेद किये हैं—१. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा, ३. परमात्मा। बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि से युक्त होता है और उसका संसार से उद्धार होना कठिन होता है। जिन आत्माओं में अन्तरात्मा और परमात्मा रूप प्रकट होने की योग्यता नहीं, उन आत्माओं को अभव्य कहा है और जिनमें योग्यता है, उनको भव्य। अन्तरात्मा के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। रागद्वेष की तरतमता की अपेक्षा ये तीन भेद किये हैं। 'समाधि-शतक'^३ में अन्तरात्मा के विषय में बड़े विस्तार से विवेचन है। परमात्मा के दो भेद किये हैं—१. सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। सकल परमात्मा अर्हत् है और विकल परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी। द्रव्य संग्रह^४ में इन्हीं की व्याख्या दी है।

सभी जीव अनाविकाल से कर्म बंधन से युक्त हैं और इसी कारण वे संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। कर्म बंधन की चार अवस्थाएँ हैं—१. प्रकृति बंध, २. प्रदेश बंध, ३. स्थिति बंध और ४. अनुभाग बंध। योग और कषाय के सम्बन्ध से आत्मा कर्म बंधन में पड़ जाता है।^५ शक्ति की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा सभ्यत्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरु-लघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, वीर्य, अव्याबाध इन आठ गुणों से युक्त है, परन्तु अभिव्यक्ति की अपेक्षा तारतम्य रहने से आत्मा के उक्त तीन भेद किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त आगम में सर्वसामान्य जीव के दो भेद किये हैं—(१) सिद्ध और (२) संसारी। फिर संसारी जीव के दो भेद किये हैं—(१) त्रस और (२) स्थावर। त्रस के दो भेद हैं—(१) लब्धित्रस, (२) गतित्रस। स्थावर के पाँच भेद हैं—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति। इसके अतिरिक्त गति, इन्द्रिय, पर्याप्ति, संज्ञादि के भेद से जीवों के अनेक भेद हो सकते हैं। आगम में जीव के ५६३ भेद भी देखने में आते हैं।

१ द्रव्यसंग्रह : गा० १०, ३३, योगसार : गा० ६।

२ योगसार : गा० ६।

३ समाधि शतक : ३१, ६०।

४ द्रव्यसंग्रह : गा० १४।

५ स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा : गा० १०२-१०३।

